

ISSN : 2321-5569

मधुमती

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर
अंक 4 अप्रैल, 2019



ISSN 2321-5569

मधुमती

वर्ष 59, अंक 4, अप्रैल, 2019

प्रधान सम्पादक
भवानीसिंह देथा (आई.ए.एस.)

सम्पादक
ब्रजरतन जोशी



www.rsaudiv.org

E-mail : madhumati udaipur@gmail.com

मधुमती

वर्ष 59, अंक 4, अप्रैल, 2019

प्रधान सम्पादक

भवानीसिंह देथा (आई.ए.एस.)

सम्पादक

ब्रजरतन जोशी

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. वसन्तसिंह सोलंकी

प्रबन्ध सहयोग

राजेश मेहता

आवरण एवं रेखांकन

अमित कल्ला

अंक का मूल्य : 20/- (एक प्रति)

वार्षिक शुल्क : 240/-

(वार्षिक शुल्क केवल धनादेश, बैंक-ड्राफ्ट, एटपार चेक या नकद सचिव,
राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर के नाम से ही भेजें)

प्रकाशक

सचिव, राजस्थान साहित्य अकादमी

सेक्टर-4, हिरण मगरी, उदयपुर (राज.)- 313 002

दूरभाष : 0294-2461717

मुद्रक

न्यूट्रेक ऑफसेट

13, भोपा मगरी, न्यूट्रेक नगर, हिरण मगरी, सेक्टर 3,

उदयपुर (राज.)-313 001

दूरभाष : 0294-2467046

मधुमती में प्रकाशित रचनाओं का सर्वाधिकार रचनाकारों के पास है। मधुमती में प्रकाशित लेखों/रचनाओं में व्यक्त विचार/तथ्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत है। मधुमती में प्रकाशित रचनाओं के लिए राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही अकादमी इसके लिए उत्तरदायी है।

अनुक्रम

सम्पादकीय/07

विशेष स्मरण

अलविदा नामवरसिंह/पल्लव/09

लेख

ऋतुराज : जीवनानुभूतियों का अर्थगर्भित छन्द/राजेश कुमार व्यास/14

मध्यकालीन भाषा-समाज और तुलसीदास/पंकज पाराशर/19

गाँधी : वाद से परे/राजीव रंजन गिरि/27

युद्ध और शान्ति में देश का जीवन/कश्मीर उप्पल/38

उत्तर आधुनिकता : आधुनिक परिवेश के सम्बन्ध में/रमेश ऋषिकल्प/42

हिन्दी कहानी का युवा चेहरा/आशुतोष/47

नैरेटिव टेक्नीक और हिन्दी कहानी/साहिल कैरो/55

सिद्ध चितेरा : राजा रवि वर्मा/भगवती प्रसाद गौतम/62

कहानी

बीतता हुआ आज/शर्मिला बोहरा जालान/66

दुविधा/राकेश दूबे/74

कविता

दस कविताएँ/पवन करण/83

पाँच कविताएँ/अमित कल्ला/97

तीन कविताएँ/नवनीत पाण्डे/100

छह कविताएँ/राकेश मूथा/103

पाँच कविताएँ : अशोक अनुराग/107

संस्मरण

मेरे प्रेरणास्रोत थे शिवरतन थानवी/कमर मेवाड़ी/109

अनुवाद

सपने में माँ और सुन्दरकांड/राजस्थानी ललित निबन्ध/मालचन्द्र तिवाड़ी/112

हिन्दी कहानी का युवा चेहरा

आशुतोष

(नगरवधुएँ अखबार नहीं पढ़तीं, पाँच का सिक्का और लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना, कहानी संग्रह के विशेष संदर्भ में)

यह कहानी की केन्द्रीयता का समय है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास देखें तो पूर्व में कहानी को लेकर कई तरह के आंदोलन और मंच अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहे हैं। उस उपस्थिति का सार्थक और निरर्थक होना उस समय-विषय और उन कथा आंदोलनों की आंतरिक सामग्री और शक्ति पर निर्भर रहा है।

इन दिनों 'युवा कहानी' या 'युवा कथा आंदोलन' के नाम से एक नई तेजी और सक्रियता हिन्दी कहानी में दिखाई दे रही है। इसमें युवा कौन है? कहानी या कहानीकार? यह जानने की अलग-अलग लोगों की अलग-अलग प्रविधि हो सकती है। इस समय यह भी देखा जा सकता है कि कई पीढ़ियों के लोग एक साथ बहुत कुछ सार्थक लिख रहे हैं। ऐसे में मैं यह मानकर चल रहा हूँ कि 'युवा' कहानी ही है।

युवा कहानी के नाम से कहानी का जो यह परिदृश्य बना है, वह कई मायनों में खास है। अब तक कहानी के विमर्श से बाहर रह रहे मुद्दे और स्थितियाँ अब जगह पा रही हैं। एक नई पीढ़ी बन रही है। कहानियों के कथ्य और संरचना में कई तरह के नवाचार देखने को मिल रहे हैं। हिन्दी कहानी में इतनी विविधता इससे पहले शायद ही कभी देखी गई हो। कहानी में यह लोकतंत्र के आगमन का समय है। युवा कहानी के इस दौर में जिस तरह भिन्न प्रकृति, बोध, चेतना और वर्ग के कहानीकार सक्रिय हैं, इसकी तुलना सिर्फ 'भारतेन्दु युग' से की जा सकती है। सम्भव है कि इसीलिए इसे 'नई', 'सचेतन', 'समानान्तर', 'सक्रिय', 'समकालीन' की तर्ज पर

कोई नाम न देकर 'युवा कहानी' कहा जा रहा है। कहानी के इस समकाल और धारा के निर्माण में कारक मंचों और परिस्थितियों में भी काफी भिन्नता है। युवा कहानी को 'वागर्थ', 'हंस', 'नया ज्ञानोदय', 'तद्भव', 'परिकथा', 'अकार', 'कथादेश', 'साखी' व अन्य पत्रिकाओं ने पर्याप्त और जरूरी अवसर उपलब्ध कराया। जिसकी बदौलत नये कहानीकार अपनी भिन्न अनुभव सम्पदा और कहन के साथ चर्चित हुए। युवापन इनका तेवर है और समकालीनता इनकी पूँजी। कहानीकारों की इस पीढ़ी ने सबसे ज्यादा बदलाव देखा है। साम्प्रदायिकता, वैश्वीकरण, नवआर्थिक नीतियाँ, राजनीतिक क्षेत्रीय दलों का उभार, बाजारवाद, उदारवादी लोकतंत्र आदि मुहावरे नारों की शक्ल में इस पीढ़ी की चेतना को झकझोर रहे थे। इन सब बातों ने युवा कहानी को हमारे समय के एक जरूरी साहित्यिक स्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

युवा कहानी के इस पूरे परिदृश्य को तीन युवा कहानीकारों, सत्यनारायण पटेल (लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना), अनिल यादव (नगरवधुएँ अखबार नहीं पढ़तीं) और अरुण कुमार असफल (पाँच का सिक्का) के कहानी-संग्रह के माध्यम से समझने का प्रयास किया जा रहा है।

सत्यनारायण पटेल, अनिल यादव और अरुण कुमार असफल, ये तीनों कहानीकार युवा लेखन के चर्चित नाम हैं। इनका फन और अंदाज एक दूसरे से उतना ही भिन्न है, जितना कि किसी एक रचनाकार का दूसरे रचनाकार से भिन्न होता है। बावजूद इसके, एक समय में लिखने, एक

तरह के दबावों के बीच रहने और उसे महसूस करने का आधार उन्हें जोड़ता है। आमतौर पर प्रत्येक युग की अपनी ज्ञान मीमांसा होती है और उससे संदर्भित कई तरह के विमर्श सतत चलते रहते हैं। उस युग की समस्त विचार व ज्ञान सरणियाँ, कलाएँ, साहित्य आदि उस विमर्श में भाग लेते हैं। चाहे उस विमर्श का पक्ष लें या विरोध करें। यह उनकी सीमा भी है और सामर्थ्य भी है। यहाँ यह सवाल स्वाभाविक है कि जिस समय में ये तीनों विवेच्य कहानी-संग्रह है — उस समय का विमर्श क्या है? इसी से जुड़ा हुआ दूसरा सवाल भी है कि 'विमर्श' का क्या अर्थ है? पहले इस दूसरे सवाल को ही देखते हैं — विमर्श एक अवधारणात्मक पद है, जो चिंतन, विचार, वाद-विवाद जैसे शब्दों से अलग है। 'Time Dant' ने अपनी पुस्तक 'Knowledge, Ideology Discourse (Routledge - 1994)' में विमर्श को संरचनात्मक एवं उत्तर संरचनावाद की विश्लेषण की तकनीकी मानते हुए 'विमर्श' शब्द पर विस्तार से विचार किया है। बिल एशक्राफ्ट, ग्रिफिथ और हेलेन टिफिन के सम्पादन में आई पुस्तक 'पोस्ट कोलेनियल स्टडीज की एण्ड कन्सेप्ट' में मिशेल फूको का एक चर्चित कथन दिया गया है जिसमें फूको के लिए 'विमर्श' सामाजिक ज्ञान से मजबूती से जुड़ा हुआ क्षेत्र है, वक्तव्यों की एक ऐसी व्यवस्था जिसके अन्तर्गत संसार दुनिया को माना जा सकता है। यह वही संसार नहीं है, जिसे हम जानते हैं। यह वह संसार है जो विमर्श द्वारा अस्तित्व में लाया जाता है।"

'विमर्श' शब्द की इसी समझ के साथ उन मुद्दों की पहचान की जा सकती है, जिनसे आज का विमर्श बनता है। यदि तार्किक ढंग से विचार किया जाए तो राजनीति, बाजार और समाज ये तीन ऐसे पक्ष हैं, जो हालिया परिदृश्य में विमर्श के केन्द्र में है। इस बिन्दु पर विवेच्य कहानी-संग्रहों

को देखें तो इनमें आज के विमर्श के ये तीनों पक्ष मौजूद हैं। बहुत मोटे तौर पर कहा जाए तो सत्यनारायण पटेल की कहानियों के केन्द्र में राजनीति, अनिल यादव की कहानियों के केन्द्र में बाजार और अरुण कुमार असफल की कहानियों के केन्द्र में समाज है। यहाँ यह सावधानी रखनी होगी कि आज बाजार, समाज और राजनीति अपने आप में पूर्व की भाँति स्वायत्त और स्वतंत्र इकाई नहीं रह गई हैं। ये तीनों एक-दूसरे से गहरे अर्थों में जुड़े हैं और एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। कभी-कभी यह प्रभाव 'नियंत्रण' की हद तक भी पहुँच जाता है। इसलिए यहाँ जब इन तीनों कहानीकारों की कहानियों की केन्द्रीयता का ऐसा विभाजन किया गया तो उसके पीछे तक तर्क इनके प्रस्थान बिन्दु का है। चलते कहाँ से हैं? यदि सत्यनारायण राजनीति से शुरू कर बाजार, समाज तक जाते हैं तो सत्यनारायण की कहानियों की केन्द्रीयता राजनीति ही मानी जायेगी। विभाजन का यही आधार शेष दो रचनाकारों के लिए भी रखा गया है। समाज, बाजार और राजनीति में नब्बे के दशक के पहले तक स्पष्ट अलगाव था, किन्तु शीतयुद्ध के खात्मे, सोवियत संघ के पतन और ग्लोबलाइजेशन की प्रक्रिया में जिस तरह से समूची दुनिया का तंत्र बदला है, उस प्रभाव से राजनीति-आर्थिक राजनीति में, बाजार-उदारीकृत बाजार में और समाज-ग्लोबल विलेज में बदलते जा रहे हैं। इस भूमिका के बाद विवेच्य कहानी संग्रहों में समाज, बाजार और राजनीति की अवस्थिति पहचानी जा सकती है। अनिल यादव की कहानी 'नगरवधुएँ अखबार नहीं पढ़तीं' वेश्याओं के जीवन पर लिखी गई एक सशक्त कहानी है। यँ तो वेश्याओं को केन्द्र में रखकर पहले भी बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया है, किन्तु अनिल की यह कहानी वेश्याओं के साथ-साथ मीडिया, बाजार, समाज और राजनीति

सभी को अपने दायरे में लाते हुए अपने समय के विमर्श में अपना पक्ष रखती है। काशी के इलाके मंडुवाडीह की वेश्याओं को वहाँ से हटाने के पीछे का तर्क तो यह दिया गया है कि 'काशी के धार्मिक वातावरण और सांस्कृतिक शुचिता को बहाल करना है, जैसे कि काशी के वातावरण को दूषित करने में इन नगर-वधुओं का ही हाथ है, वहाँ के पण्डे, पुजारियों की स्थिति और भूमिका तो पाक-साफ है। लेकिन कहानीकार ने इसके पीछे के राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थों का बहुत ही सशक्त ढंग से पर्दाफाश किया है। अपनी सोशेलाइट पत्नी लवली त्रिपाठी की हत्या को आत्महत्या सिद्ध कर देने वाला डी.आई.जी. वेश्याओं से काशी को मुक्त कराने के अभियान का नेतृत्व करता है। डी.आई.जी. की यह कोशिश काशी की मुक्ति से अधिक अपने चरित्र पर लगे दाग से मुक्ति से जुड़ी हुई है। इस तरह के सांस्कृतिक पैरोकारी, नैतिक तथा शुद्धतावादी अभियानों के पीछे कितने सारे राजनैतिक और आर्थिक सन्दर्भ जुड़े रहते हैं, यह कहानी उन सभी का खुलासा करती है।¹²

मंडुवाडीह की नगरवधुओं को उजाड़ कर वहाँ बनने वाली हाउसिंग सोसायटी में नेताओं, ठेकेदारों और नौकरशाहों तथा पत्रकारों आदि की हिस्सेदारी का भांडाफोड़, डी.आई.जी. के खिलाफ अपनी पत्नी की हत्या करने के सबूत अखबार नहीं छापते। अखबार का मैनेजर तर्क देता है कि "कुल साढ़े तीन सौ रंडियाँ जिनमें से कुल मिलाकर शायद साढ़े तीन होंगी, जो अखबार पढ़ती हों! ऐसे में यह सब छापने का क्या तुक है।"¹³ इस तरह खुद को सच्चाई के पैरोकार की तरह पेश करने वाली मीडिया लाभ-हानि के बाजार में सच को नहीं बाजार को ध्यान में रखती है। अनिल की यह कहानी अपने लम्बे वृत्तांतों और कथा-सूत्र में उलझाव के बावजूद बाजार

केन्द्रित उस नव सामाजिक संरचना पर सवाल खड़ा करती है, जिसमें राजनीति, धर्म, नौकरशाही और मीडिया के गठजोड़ से आज के समय का भयावह चेहरा साफ नजर आता है।

अनिल यादव बाजार के इन्द्रजाल को बखूबी समझते हैं। इनकी एक और कहानी 'लिबास का जादू' भी दरअसल बाजार की ही जादू की कहानी है। एक ऐसा बाजार जहाँ 'आदमी की नहीं लिबास की कीमत है।' इस बाजार में 'मनुष्यों के वस्तुगत सम्बन्ध' ज्यादा प्रभावी हैं। इस कहानी में अनिल एक ऐसा सामाजिक यथार्थ रचते हैं जो महानगरों में मौजूद बाजार और जीवन की प्रभावशीलता को 'फोकस' करता है। इस संग्रह की अन्य कहानियाँ 'दंगा भेजियो मौला', 'लोक कवि का विरहा', 'उस दुनिया को जाती सड़क', 'आर जे साहब का रेडियो' अपनी यथार्थ चेतना को लेकर महत्त्वपूर्ण हैं। 'लोक कवि का विरहा' में एक लोक कवि के संघर्षों, सफलता और अपवादित होते चले जाने की कथा है। यह कहानी 'लोक संस्कृति' के 'लोकप्रिय संस्कृति' में बदल जाने की त्रासदी की कहानी है। यहाँ यह भी देखा जा सकता है कि व्यक्ति और उसकी स्वाभाविक प्रतिभा को बाजार किस तरह पहले 'उत्पाद' में और अन्ततः कचरे में बदल देता है। कहानीकार ने लोक कवि की पूरी विडम्बना और त्रासदी को लोक के ही एक बेजोड़ मुहावरे 'पलिहर का बानर' में उतार दिया है। तो वहीं 'आर जे साहब का रेडियो', टाइम्स दिनचर्या तथा महत्वाकांक्षा से पैदा होने वाली 'वैयक्तिक विघटन' और 'अलगाव' कहानी है। 'दंगा भेजियो मौला' साम्प्रदायिकता की सूक्ष्म व्यंजना की कथा है। यह कहानी अपने कथ्य की विशिष्टता के कारण अलग से ध्यान खींचती है। अनिल की यह कहानी बदले हुए यथार्थ की बात करती है। यहाँ 'ब्रेख्त' को याद किया जा सकता

है, जिसमें ब्रेख्त कहते हैं कि "यथार्थ निरन्तर परिवर्तनशील है और चूँकि यह मनुष्यों द्वारा निर्मित किया जा रहा है इसलिए मनुष्यों द्वारा बदला भी जा सकता है।"⁴ अनिल 'दंगा भेजियो मौला' में बदलते हुए यथार्थ की बात करते हैं, जिसमें धर्म, राजनीति, बाजार, प्रेम और सामाजिक सरोकार सब कुछ प्रश्नांकित है।

अनिल की कहानियों का अंत लगभग एक जैसा होता है, जैसे - "माना कि सच लिख नहीं सकता लेकिन उसे अपनी जिंदगी में स्वीकार तो कर सकता है"⁵ - नगरवधुएँ अखबार नहीं पढ़तीं।

"सीवर के बजबजाते पानी में हिन्दू और मुसलमान गुत्थमगुत्था हो गए। अल्लाह ने हताश लड़कों की दुआ कबूल कर ली थी।"⁶ - दंगा भेजियो मौला। "पता नहीं कौन कब धकियाकर गिरा दे। डाल छूट गई, पलिहर का बानर हो गया हूँ"⁷ - लोक कवि का विरहा।

"नलिन आँसुओं से धुँधलाई आँखों से खड़ा देखता रहा"⁸ - लिबास का जादू।

"नलिन एक दिन यह दुनिया मिट जायेगी और पता भी नहीं चलेगा कि कैसे मिटी"⁹ - आर जे साहब का रेडियो।

इन कहानियों के अन्त को देखकर अनिल पर 'फार्मूलाबद्ध' होने का आरोप लगाया जा सकता है। साथ ही किसी को भी ये सारे प्रसंग नियतिवादी लग सकते हैं। लेकिन कहानी की पूरी संरचना को देखा जाये तो यह बात समझी जा सकती है कि इन कहानियों के पात्रों के जीवन और चेतना में एक खास तरह की पारस्परिकता है। पात्रों की यह चेतना उनके सामाजिक अस्तित्व से निर्मित हुई है। इस संदर्भ में मार्क्स की किताब 'ए कंट्रीव्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी (1859)' की भूमिका से मार्क्स के इस कथन को देखा जा सकता है कि "मनुष्य सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में विशेष सम्बन्ध कायम करता है, जो

अनिवार्य होते हैं और उसकी इच्छा से स्वतंत्र भी। ये उत्पादन सम्बन्ध भौतिक उत्पादन शक्तियों के विकास की अवस्था से भी सम्बन्धित होते हैं। ये अधिरचनाएँ ही सामाजिक चेतना के विशिष्ट स्वरूप के निर्धारण से जुड़ी होती हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति ही सामान्यतः सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं को निर्धारित करती हैं। मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।"¹⁰ अनिल यादव की कहानियों के पात्रों की चेतना को उनका सामाजिक अस्तित्व लगभग इसी तरह निर्धारित करता है। यही कारण है कि उनकी कहानियों के अंत में एक खास तरह का पैटर्न मिलता है। इन सबके साथ ही अनिल यादव की कहानियाँ अपने समय के विमर्श में हस्तक्षेप करती हैं।

अनिल की कहानियों में जिस तरह बाजार का तनाव मौजूद है, उसी तरह अरुण कुमार असफल की कहानियों में समाज अपने विविधवर्णी संदर्भों के साथ आता है। असफल इस मायने में अपने समकालीनों से थोड़ा भिन्न हैं। उनके यहाँ न तो भाषा का अतिरिक्त चमत्कार है और न कथ्य को आक्रांत कर देने वाला शिल्प। 'पाँच का सिक्का' संग्रह की सभी कहानियाँ इस दृष्टि से खास हैं। 'कंडम' कहानी अपने कथ्य के माध्यम से एक मध्यवर्गीय सामाजिक विमर्श तो निर्मित करती है साथ ही कई सारे सवाल छोड़ जाती है। यह हमारे सामाजिक जीवन विशेषकर मध्यवर्गीय परिवारों में नौकरी, रोजगार, सुरक्षा, महत्वाकांक्षा आदि के लिए रोजमर्रा की जिंदगी में किए जा रहे समझौतों के कारण गिरते नैतिक स्तर की त्रासदी की कहानी है। असफल की कहानी में पति मशीन के टूट जाने पर अपने ऊपर लगे अर्थदण्ड से मुक्ति के लिए अपनी पत्नी को अपने बास के घर भेजता

है। 'कंडम' कहानी में पति-पत्नी का सामंती रिश्ता मौजूद है। कुछ प्रतीक तो व्यर्थ ही इस्तेमाल किए गए हैं — जैसे पत्नी के कपड़ों का 'लाल' रंग होना, यहाँ 'लाल रंग' कोई स्पष्ट संकेत नहीं करता। इसके बावजूद 'कंडम' कहानी की बहुस्तरीयता इसकी रोचकता को बनाए रखती है। सरकारी संस्थानों के निजीकरण से उपजी हताशा और दुविधा इस कहानी की रोचकता को बनाए रखती है। सरकारी संस्थानों के निजीकरण से उपजी हताशा और दुविधा इस कहानी में 'अण्डरटोन' की तरह मौजूद है।

असफल के पास सामाजिक संदर्भों के बहुस्तरीय अनुभव हैं, जिसका एक रूप 'पाँच का सिक्का' में देखा जा सकता है। छोटे-छोटे नामालूम किस्म की घटनाओं से कहानी खड़ा कर लेने की युक्ति असफल को जैसे सिद्ध है। हमारे समाज में कई सारे समाज हैं, जहाँ पाँच का सिक्का इतनी बड़ी चीज होती है कि एक माँ अपने बच्चे के प्रति इस हद तक कठोर हो जाती है। यह त्रासदी ही इस कहानी का कथ्य है। असफल उस त्रासदी को चित्रित तो करते हैं पर इसमें यथार्थ का तर्क छूट जाता है। आमतौर पर यथार्थ ही वह तत्त्व है, जो कहानी को तार्किक बनाता है। 'पाँच का सिक्का' में कहानीकार जहाँ तक यथार्थ के साथ रहता है वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु जैसे-जैसे यथार्थ से दूरी बढ़ती है वैसे-वैसे कहानी में एक खास तरह का रोमांच आ जाता है। प्रेमचन्द सुख और दुःख दोनों को संतुलित ढंग से रखते हैं, यही होना भी चाहिए। त्रासदी व्यवस्था की विद्रूपता तो है ही पर पूरा मामला इतना क्रूर हो जाए इसके लिए, इस तथ्य की प्रामाणिकता के लिए कथ्य में जरूरी तत्त्व मौजूद रहने चाहिए। इस कहानी में लड़के (निनकू) के द्वारा पाँच के सिक्के से चाउमिन खा लेने में इतनी तार्किकता नहीं है, अगर यह लड़के का विद्रोह है तो इसके स्पष्ट

सूत्र कहानी में नहीं है। यह त्रासदी का रोमानीकरण है, जिसमें लड़के की त्रासदी पाँच के सिक्के की त्रासदी में बदल जाती है। कहानीकार के पास समाज का बँधा-बँधाया फार्मूला है, वही उसे रोमानीकरण के लिए प्रेरित करता है। किन्तु असफल अपनी कहानियों में घटनाओं के अद्भुत दृश्य रचते हैं। पाँच के सिक्के को नाली में खोजने की प्रक्रिया और वर्णन समाज पर असफल के जबरदस्त पकड़ का साक्ष्य है। त्रासदी का यह रोमानीकरण 'गुल्लक' कहानी में नहीं है, जिससे वह कहानी सशक्त बनती है। 'गुल्लक' कहानी की कथा संरचना को कहानीकार ने प्रभावशाली ढंग से बुना है कि वह विश्वसनीय लगती है। माँ-बाप अपने प्रशिक्षण और पालन-पोषण से ही बच्चे के भीतर सम्पत्ति बोध भरते हैं। सम्पत्ति बोध अर्जित कर रहा बच्चा धीरे-धीरे मानवीय रिश्तों के प्रति असंवेदनशील हो जाता है। माँ-बाप खुद की बेहतर परवरिश के नाम पर बच्चों के भीतर पूँजी का संस्कार पैदा कर रहे हैं। 'गुल्लक' कहानी में असफल ने बच्चे में हो रहे बदलाव को बहुत ही बारीकी से पकड़ा है। अपने मनपसन्द खिलौने के लिए अपने 'गुल्लक' में पैसे जुटा रहा बच्चा किस-किस तरह एक-एक रेजगारी के लिए कोशिश कर रहा है, यह वर्णन तो काफी महत्वपूर्ण बन पड़ा है। अपने खिलौने के प्रति स्वामित्व-बोध रखने वाला बच्चा जब यह कहता है कि "छूना मत पापा! यह मेरे पैसे का है" — यहाँ आकर तो कहानीकार को अपने प्रयोजन में अभूतपूर्व सफलता मिली है। आखिरकार पूँजी अधिकार और स्वामित्व बोध पैदा करती ही है।

असफल की कहानियाँ सामाजिक संदर्भों और सामाजिकता के बदलावों की कहानियाँ हैं। इस क्रम में 'स्याही और तेल' तथा 'पुरानी कमीजें' का भी जिक्र किया जा सकता है। अरुण असफल की

पारखी नजर में कई सारे प्रसंग और स्थितियाँ हैं जो इनकी कहानियों में आकर एक स्थाई भाव ग्रहण करती हैं। 'युवा कहानी' के सामाजिक पक्ष पर अरुण असफल अच्छी कहानियाँ लिख रहे हैं। आंदोलनों, मंचों और फैशन में न पड़कर अरुण कुमार असफल अपनी तरह से लिख रहे हैं। आखिरकार 'अपनी तरह' से लिखा हुआ ही बचता है।

बाजार, समाज के साथ हमारे समय के विमर्श का तीसरा मुद्दा या पक्ष राजनीति है। युवा कहानी लेखन की अपनी एक राजनीतिक समझ है। राजनीति और विचारधारा को केन्द्र बनाकर लिखने वालों में एक महत्वपूर्ण नाम सत्यनारायण पटेल का है। सत्यनारायण पटेल की कहानियों और चेतना का मुख्य केन्द्र राजनीति है। यद्यपि यह राजनीति भी बेहतर समाज के लिए और मुक्तिकामी है। 'लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना', 'सपने के टूँठ पर कोंपल' और 'गम्मत' जैसी कहानियों का राजनैतिक एजेण्डा स्पष्ट है। वैसे तो 'साहित्य और विचारधारा' को लेकर काफी सार्थक बहस हुई है, फिर भी इस मुद्दे पर कुछ भी निष्कर्षात्मक कहना मुश्किल है। भारत में 20वीं सदी के साहित्य को देखें तो इसमें शोषण और दमन के खिलाफ कई सशक्त आवाजे हैं। प्रेमचन्द, यशपाल, रेणु, नागार्जुन, धूमिल का रचना संसार एक ऐसी राजनीतिक चेतना का निर्माण करता है, जिसमें दबी-कुचली मानवता सिर उठाकर चलना सीखती है।

साहित्य और राजनीति के मसले पर टेरी ईगलटन कहते हैं कि "किसी समाज को किस सीमा तक प्रगतिशील कला साहित्य की जरूरत है? यह अपने में एक ऐतिहासिक सवाल है, जिसका हमेशा के लिए रुढ़ और स्थाई जवाब नहीं दिया जा सकता है। इतिहास के खास दौर में हो सकता है कि महान लेखन के लिए साहित्य को प्रगतिशीलता के लिए प्रतिबद्ध बनाने की जरूरत न पड़े। जबकि अन्य दौर में जैसे फासीवाद के

दौरान एक कलाकार के रूप में जीवित रहने और लिखने के लिए गलत चीजों के खिलाफ प्रश्न करने और नतीजन अपने प्रतिबद्धता को स्पष्ट करना जरूरी हो जाता है। इन समाजों में राजनीतिक प्रतिबद्धता और अच्छा व महत्वपूर्ण लेखन एक साथ ही रचना का जरूरी दायित्व बन जाते हैं। कई बार बुर्जुवा समाजों में भी व्याप्त बेतुकी व घटिया विचारधाराओं के कारण अच्छा और तेजस्वी साहित्य लिखना कठिन हो जाता है। ऐसे समाजों में भी कला-साहित्य के हित में क्रांतिकारी कला के लिए प्रतिबद्ध होना जरूरी हो जाता है।¹² इस तरह देखा जा सकता है कि साहित्य और विचारधारा के पारस्परिक सम्बन्ध और समाज में इनकी अवस्थिति को लेकर कई तरह की बहसें हैं। ऐसे में जब राजनीति का पारम्परिक स्वरूप काफी धुँधला हो गया है और जनता राजनीति में अपना 'लोकेशन' नहीं ढूँढ़ पा रही हो तब लेखक की जिम्मेदारी और बढ़ जाती है। किन्तु साहित्यकार को यह ध्यान रखना पड़ता है कि साहित्य की अपनी एक विशेष संरचना होती है। प्रयोजन भी उदात्त और विशेष होता है। ऐसे में साहित्य किसी विचारधारा का घोषणा-पत्र नहीं हो सकता।

सत्यनारायण पटेल की कहानियों का राजनैतिक निहितार्थ स्पष्ट है। सत्यनारायण की इस संग्रह की दो कहानियाँ 'लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना' और 'सपने के टूँठ पर कोंपल' इस अर्थ में उल्लेखनीय हैं। सत्यनारायण इस रूप में तो महत्वपूर्ण हैं ही कि उनके पास एक सपना है। 'सपने के टूँठ पर कोंपल' कहानी सतीश जैसे प्रगतिशील युवक की प्रतिबद्धता के प्रति आग्रह और क्रांति के प्रति एक खास तरह के रोमान (जो आम तौर पर उस उम्र वर्ग के युवाओं में होता है) से शुरू होती है। सतीश अपने पिता के तेल व्यापार के धंधे से भी नफरत करता है। उसके

सामने पूँजीवादी और गैरपूँजीवादी सामाजिक आर्थिक विभाजन का स्पष्ट खाका है। धीरे-धीरे वह बहुत सारे लोगों के सम्पर्क में आता है, प्रगतिशील, समाजसेवी, क्रांतिकारी आदि। किन्तु समय और स्पष्ट सच्चाइयों के साथ उन लोगों के चरित्र के दोहरेपन से उसका सपना (क्रांति और बदलाव का) टूट जाता है। सतीश के सामने सभी शानदार चेहरों से नकाब उतर चुका है। क्रांतिकारी, समाजसेवी और बुद्धिजीवी आदि क्रांति तो कभी शान्ति के नाम पर वैचारिक मूल्यों और जनता दोनों से छल करते हैं। जब सपना नहीं रहा तो जीने का भी कोई अर्थ नहीं बचा। सतीश आत्महत्या का असफल प्रयास करता है। इस बावलेपन और बदहवास समय में उसकी मुलाकात पवन से होती है। पवन सतीश की ही मदद से अब एक वाचनालय चलाता है। सतीश पवन के साथ आकर वाचनालय देखता है। वहाँ बहुत से लोग पढ़ना और जीना सीख रहे हैं — यह सब देखकर सतीश की आँखों में चमक आ जाती है। यह चमक एक सपने के हरे होने की चमक है। यह कहानी आश्वस्त करती है कि सपना बचा रहेगा तो फिर एक शुरुआत हो सकती है। इस कहानी में सतीश के द्वंद्व का तो यथार्थपरक वर्णन है, किन्तु अन्त कोई बड़ा प्रभाव नहीं छोड़ता। वह आश्वस्त तो करता है पर उससे उम्मीद एक बेचैनी की थी। 'चलो जितना है उतना ठीक है' की नियति से संतुष्ट होने वालों से बदलाव की कितनी उम्मीद की जा सकती है? कहानी के कथासूत्रों को देखें तो सतीश का जो सपना टूटा था... और अन्त में फर्क नहीं दिखता और यह भी कि इस नये सपने की क्या विश्वसनीयता है? एक सपने से निकलकर दूसरे सपने में समा जाना कोई ठोस और कारगर राजनैतिक उपाय नहीं है। इस अर्थ में 'लाल छींट वाली लूंगड़ी का सपना'

कहानी अपने कथ्य में ज्यादा स्पष्ट है। एक अदद लाल लूंगड़ी का सपना किस तरह एक किसान के यहाँ पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानान्तरित होता रहता है। (मगर पूरा नहीं होता) सत्यनारायण इसका मार्मिक एवं त्रासद वर्णन करते हैं। यह कहानी राष्ट्र-राज्य द्वारा आरोपित तथाकथित विकास और आधुनिकता की समूची परियोजना को प्रश्नांकित करती है। शहरीकरण का दबाव बढ़ रहा है। किसानों की जमीनों को सरकारी शह पर निजी कम्पनियाँ खरीद कर 'सेज' हाउसिंग सोसायटी, मॉल बना रही है। हमेशा से मरते-खपते किसानों के सामने एकमुश्त ढेर सारा रुपये का आकर्षण है। किसान अपनी जमीन बेच रहे हैं और मकान, गाड़ी जुटाकर सम्पन्न होने के छद्म सुख में जी रहे हैं। ऐसे में रामाबा और डूंगा जैसे किसान हैं, जो किसी भी स्थिति में अपनी जमीन नहीं बेचना चाहते। यह कहानी जमीन बेच देने वालों की त्रासदी तो है ही, साथ ही जमीन न बेचने वालों की भी त्रासदी को व्यक्त करती है।

आमतौर पर आधुनिकीकरण-औद्योगीकरण, मशीनीकरण तथा वैज्ञानीकरण के आधार पर काम करता है। शहरीकरण औद्योगीकरण में ही शामिल है। भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया स्वाभाविक और देशकाल के अनुसार नहीं बढ़ी। सही तरीके से गाँवों का शहरीकरण नहीं हुआ बल्कि गाँवों का शहरों में स्थानान्तरण हुआ। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के आसपास के इलाकों को देखकर इस तथ्य का आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है। सत्यनारायण पटेल अपने परिवेश और समकालीन राजनैतिक एवं आर्थिक परियोजनाओं के इस सच को बखूबी पकड़ते हैं। डूंगा अपने ही गाँव के रामा बा का हश्न देखकर भयभीत है पर अपने संकल्प पर अडिग रहता है। पर जिस दिन पड़ोस का किशोर उसे

बताता है कि इधर की जमीन खरीदने वाली कम्पनी मंदी में डूब गई है, वह कुछ न समझते हुए भी खुश होता है कि अब उसका खेत बचा रहेगा अर्थात् सपना बचा रहेगा। इस कहानी का गठन अद्भुत है, साथ ही कथा के वर्णन में विश्वसनीयता और कथासूत्र में तार्किकता मौजूद है। लेकिन खेती के प्रति डूंगा के लगाव में वह आत्मीयता नहीं है जिन अर्थों में 'होरी' खेती को 'मरजाद' कहता है। दूसरे यह कि सत्यनारायण पटेल अपने स्पष्ट राजनैतिक आग्रह, समर्थ प्रतिबद्धता के बावजूद पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतिरोध में जिस तरह एक 'भोले सपने' को खड़ा कर देते हैं उसमें यथार्थ थोड़ा नाटकीय हो जाता है। जब मैं यह कह रहा हूँ तो मुझे परहेज सपने से नहीं उसके 'भोलेपन' से है। इन कुछ खटकने वाली बातों के बावजूद सत्यनारायण पटेल हमारे समय के राजनीतिकरण पर समर्थ कहानियाँ लिख रहे हैं और अपने समय के विमर्श को संवादी बना रहे हैं। इस संग्रह की अन्य कहानियाँ 'नकारो' और 'गम्मत' अच्छी कहानियाँ हैं, किन्तु इसकी ठेट आंचलिकता कथा-रस को बाधित करती है। 'नकारो' में तो आंचलिक शब्दों की भरमार है। आंचलिकता एक शिल्प है कथ्य नहीं। आंचलिकता का उपयोग एक सीमा के भीतर किया जाये तो ही अच्छा है। इन कहानियों में सत्यनारायण पटेल ने मालवी भाषा का रचनात्मक प्रयोग किया है। भाषा की समस्या को हटा दें तो 'नकारो' अपने विषय-चयन को लेकर प्रभावशाली है। सत्यनारायण पटेल अपने इस संग्रह में और इसके पूर्व के संग्रह 'मेम का भेरू माँगता कुल्हाड़ी ईमान' में भी अपने समय में चल रही राजनीतिक प्रक्रिया तथा आर्थिक दुरभिसंधियों को ठीक से पहचानते हैं और इसका प्रतिरोध करते हैं। युवा कहानी का परिदृश्य इतना विस्तृत है कि

इसे तार्किक ढंग से समझने के लिए अत्यधिक परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता है। हिन्दी कहानी के हालिया स्वरूप को समझने के लिए यह एक बानगी भर है। किन्तु इन तीन युवा रचनाकारों के एक-एक संग्रह की कहानियों के माध्यम से समकालीन युवा-कहानी के सरोकार, चिन्ताएँ, कहन और मूल स्वभाव को समझा जा सकता है।

संदर्भ :

1. Asheraff, Bill, Gareth & Helen Tiffin (eds.), Postcolonial studies : The key concept, London, Routledge, 2002, p. 73.
2. Bhartrhari, Vakyapadiya cuntos 1, 2 (Original Sanskrit with English Translation & Note by R.R. Pillai), Varanasi, Canto 2, Delhi, Motilal Banarasidas, 1997.
3. अनिल यादव, नगरवधुएँ अखबार नहीं पढ़तीं, अंतिका प्रकाशन, 2011, पृ. 53
4. टेरी ईगलटन, मार्क्सवाद और साहित्यालोचन (अनुवाद-वैभवसिंह), आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृ. 72
5. अनिल यादव, नगरवधुएँ अखबार नहीं पढ़तीं, अंतिका प्रकाशन, 2011, पृ. 55
6. वही, पृ. 62
7. वही, पृ. 81
8. वही, पृ. 91
9. वही, पृ. 112
10. टेरी ईगलटन, मार्क्सवाद और साहित्यालोचन (अनुवाद-वैभवसिंह), आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2006 (पेपर बैक) पृ. 25
11. अरुण कुमार असफल, पाँच का सिक्का, अंतिका प्रकाशन, 2011, पृ. 105
12. टेरी ईगलटन, मार्क्सवाद और साहित्यालोचन (अनुवाद-वैभवसिंह), आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2006 (पेपर बैक) पृ. 15-16

समकालीन कहानी के सशक्त हस्ताक्षर कथा समीक्षक आशुतोष हिन्दी प्राध्यापक और सुधी अध्येता हैं। सम्पर्क : हिन्दी विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003, मो. 9479398591